''मृत्युः सामाजिक विज्ञानों में एक चुनौती के रूप में''

*डॉ. पंकज बासोतिया

शोध सारांश

किसी भी विषय या संकाय की समसामायिक चुनौतियों का प्रश्न, अनिवार्य रूप से उस विषय या संकाय विशेष की उत्पत्ति, अन्य विषयों या संकायों से उसके अन्तर या वैशिष्ट्य एवं उसके वास्तविक स्वभाव, स्वरूप एवं प्रकृति के प्रश्न के साथ बहुत ही गहराई के साथ संबद्ध होता है। अतः यह स्वाभाविक रूप से वांछनीय है कि यदि हम ''सामाजिक विज्ञानों के समक्ष समसामयिक चुनौतियों'' के प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहते हैं तो हमें एक अलग संकाय के रूप में सामाजिक विज्ञान की उत्पत्ति एवं उसके उद्‌भव के प्रश्न पर, अन्य संकायों (जैसे प्राकृतिक विज्ञान, कला एवं भाषा आदि) से उसके मूलभूत अन्तर, एवं सामाजिक विज्ञान के स्वभाव, स्वरूप एवं प्रकति के प्रश्न पर और सबसे अधिक ध्यान से इससे जुडी हुई आधारभूत जिज्ञासा या चिन्ताओं के प्रश्न पर गहराई से विचार करना होगा। यदि हम भारतीय भाषा खासकर हिन्दी में सामाजिक विज्ञान (Social Sciences) के लिए प्रयुक्त शब्द ''सामाजिक विज्ञान'' की व्युत्पत्ति पर विचार करें तो यह देख सकते हैं कि सामाजिक शब्द समाज से बना है और समाज शब्द समज से। जहां समाज का अर्थ है पशु–समुदाय वहीं समाज का सामान्य अर्थ मनुष्य–समुदाय से है। यह देखा जा सकता है कि दोनों ही शब्दों में 'समुदाय' की भावना महत्त्वपूर्ण है किन्तु फिर भी पशु और मनुष्य के बीच के भेद को भी काफी महत्त्व दिया गया हैं मनुष्य एवं पशु के बीच का ये भेद, उनकी संबद्धता और प्रेरणा का भेद हैं जहां पशुओं की प्रेरणा और सन्बन्धं, प्रकृति की विवशता के कारण प्रतीत होते हैं, वहीं मनुष्यों से उनका भेद मुलतः विवेक बुद्धि एवं स्व अवलोकन की क्षमता के कारण है। केवल सहज प्रवृतियों की परवशता के कारण पशुओं में विवेक बुद्धि एवं संकल्प की स्वतंत्रता का अभाव होने के कारण उन्हें स्वतंत्र कर्त्ता नहीं माना जा सकता।

हालांकि विभिन्न प्रकार के अनुसंधान से यह सिद्ध किया गया है कि पशु जगत के कई प्राणी/जन्तु, मनुष्य से भी आगे बढ़कर कई प्रकार के कौशल (skills) अर्जित कर सकते हैं, उनमें परस्पर एक दूसरे का हित करने, सम्प्रेषण करने का एवं विभिन्न प्रकार की चीजों को सीखने के गुण भी मनुष्य से बेहतर रूप से देखे जा सकते हैं, उनमें सुख की प्राप्ति एवं दुःख के परिहार की चेष्टा भी एक विकसित रूप में मिलती है, अपने पिछले अनुभवों से सीखने की एवं अपने अभीष्ट साध्य के लिए साधन जुटाने की चेष्टा भी उनमें देखी जा सकती है लेकिन फिर भी उनकी चेष्टाओं का मूल हमेशा राग–द्वेष–भय आदि मूल एवं जन्मजात प्रवृतियों (Instinctive) में ही रहता है, शायद इसी कारण से प्राचीन भारतीय शास्त्रों में पशु–जीवन को मात्र प्रवृति–जीवन या भोग–योनि (Instinctive & Life) ही कहा गया है। पशुओं में कर्म करने की, चयन करने की और विवेक की स्वतंत्रता उसस प्रकार से नहीं है, जैसे मनुष्य में। गहराई या ध्यान से मनुष्य समुदाय को देखकर हम कह सकते हैं कि विचार, विवके स्वतंत्रता, कर्तव्य की भावना, आत्म अवलोकन या चिंतन/मनन और सबसे बढ़कर क्या करना चाहिए (धर्म) और क्या नहीं करना चाहिए (अधर्म) की अनुकल्पना ये सभी एक–दूसरे पर परस्पर पूर्वापर रूप से निर्भर हैं। और सामान्य दृष्टि से देखने पर

जहां मानवीय आचार–व्यवहार इसी पर आधारित दिखता है वहीं पशु जीवन में इसका अभाव ही प्रतीत होता है। मनुष्य एवं पशु के इस भेद पर आधारित विचार से ही 'मनुष्य–समुदाय' की परिकल्पना, उससे जुड़े हुए विशेष अध्ययन या अध्ययन प्रणलियां आधारित है।

मनुष्य की संकल्पना

मनुष्य एवं पशु के बीच भेद पर संक्षिप्त विचार के पश्चात् यह देखा जा सकता है कि पूर्व एवं पश्चिम में मनुष्य को किस प्रकार से समझने की कोशिश की है और फिर सामाजिक विज्ञानों के गठन को इसने किस प्रकार से प्रभावित किया है?

प्राचीन ग्रीक चिंतन में सबसे पहले एक ओर सुकरात–प्लेटो एवं अरस्तु एवं दूसरी ओर प्राटेगोरस को इस प्रकार की विश्व दृष्टि का श्रेय दिया जाता है, जिसमें मनुष्य की कल्पना, सृष्टि के केन्द्र या श्रेष्ठतम के रूप में की गई है। प्रोटेगोरस की प्रसिद्ध उक्ति "Man is Mesura of all things" में इसी भावना की अभिव्यक्ति हुई है कि मनुष्य ही इस सृष्टि का श्रेष्ठतम प्राणी है। प्लेटो ने अपने ग्रंथ ''रिपब्लिक'' में विस्तारपूर्वक सुकरात के मुख से इस विचार/सिद्धांत का निरूपण किया है कि किस प्रकार बाहरी संसार की सभी संस्थाए चाहे वे सामजिक हों, राजनीतिक हों या फिर कोई भी अन्य, सभी का स्वरूप अंततः इस पर निर्भर करता है, कि मनुष्य के मन में उनकी क्या संकल्पना थी। अर्थात मनुष्य के मन की भीतरी संकल्पना ही, बाहरी जगत् में संस्था के रूप में मूर्त रूप लेती है। अरस्तु ने अपने कारण सिद्धान्त में इस भीतरी संकल्पना को आकारगत कारण एवं बाहरी रूप को प्रयोजनगत कारण के रूप में समझा है। अरस्तु ने ही मनुष्य की दो ऐसी परिभाषाएं या लक्षण भी दिए, जिनके आधार पर बाद का सारा ज्ञान–व्यापार एवं विषय/संकाय विभाजन संभव हुआ। सर्वप्रथम ज्ञान को विभिन्न वर्गों या प्रणलियों (जैसे Philosophy, Science ... Bio Sciences या Natural Sciences, Ethics) में वर्गीकृत एवं विभाजित करने के अतिरिक्त ये जो परिभाषाएं थीं, वे है ––

1. Man is a rational animal
2. Man is a social animal

अरस्तु की पहली परिभाषा, जिसमें मनुष्य का लक्षण rationality/ बुद्धि को बताया गया है, मनुष्य एवं पशु में अन्तर करने के लिए और बाद के लगभग सभी ज्ञान–विज्ञान की शाखाओं में आज तक एक सर्वमान्य परिभाषा या लक्षण के रूप में स्वीकृत है। बीच के ईसाई धर्म से प्रभावित युग, जिसे बाद में Scolastic Age भी कहा गया, यदि उसे छोड दे तो उसके बाद Kant ने फिर से मनुष्य की इस मननात्मक/चिन्तनात्मक क्षमता को ही उससे प्रमुख लक्षण के रूप में स्वीकार किया गया और कांट के बाद के सारे युग जिसे Enlightenment युग कहा गया, उसमें मनुष्य की इसी परिभाषा पर सारे आधुनिक ज्ञान–विज्ञान की भीत्ति खड़ी हुई, कांट की इस परिभाषा के साथ ही इस भीत्ति का दूसरा सबसे अधिक प्रभावशाली घटक चार्ल्स डार्विन का ''जैविक विकासवाद का सिद्धांत'' है, जिसने न केवल आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन वरन् सामाजिक चिंतन पर भी एक गहरा असर डाला। किन्तु अब पिछले कुछ समय से विशेषकर उत्तर आधुनिकतावाद व संरचनावाद के प्रभाव–काल में इस परिभाषा को एक निरपेक्ष परिभाषा न मानकर एक सापेक्ष एवं सीमित परिभाषा के रूप में ही स्वीकार किया गया है। जबकि दूसरी ओर यदि इस विशेष संदर्भ में भारतीय परिपेक्ष्य पर सृष्टि डाली जाए तो हम देख सकते हैं कि महाभारत, उपनिषद्, बौद्ध एवं जैन दर्शन अपने अपने तरीके से मनुष्य की श्रेष्ठता एवं केन्द्रीयता पर बल देते हैं। महाभारत में कहा गया है।

'नहि मानुषात श्रेष्ठतरं हि किचिंत'

वहीं भगवान बुद्ध ने कहा है ––

''किच्छो मनुष्स पटिलाभो, दुर्लभो मानुषो देहो, देहिनां क्षणभंगुरः''

पर उपनिषद् में मनुष्य की संकल्पना और भी अधिक स्पष्ट तरीके से न केवल सृष्टि में मनुष्य की केन्द्रीयता एवं श्रेष्ठता पर बल देती है वरन् उनके अनुसार सृष्टि के मूल तत्व ने अपने को पूरी श्रेष्ठता एवं अनन्यता से 'मनुष्य' में ही अभिव्यक्त किया है। ऐतरेय उपनिषद् के प्रसिद्ध सृष्टि रचना विषयक आख्यान में यह वर्णन आता है कि किस प्रकार परमात्मा ने अपने संकल्प से लोकों की रचना की फिर सृष्टि के विभिन्न तत्वों के रूप में देवताओं की रचना की जिनसे मनुष्य की भिन्न–भिन्न इन्द्रियों का निर्माण हुआ (वाक् से अग्निदृमुख, प्राण से नासिका, सूर्य से आँखें, वायु से कान, चन्द्रमा से मन आदि का सृजन किया)। इस प्रकार मनुष्य का सृजन बहुत सुन्दर होने पर भी परमात्मा को इससे संतुष्टि नहीं हुई, तब इसने स्वयं उसमें प्रवेश किया, जिसे उपनिषद् विदृति कहता है। तैतीरीय उपनिषद् में इसे ही

''तत्सृष्टवा तदेवानु प्राविशत्।''

कहा गया है कि इसे ही अलग शब्दों में **''यत् पिण्डे, तत् ब्रह्माण्डे''** भी कहा गया है। ऋग्वेद के प्रसिद्ध ''पुरुष सूक्त'' में भी एक भिन्न प्रकार से इसी एकता का वर्णन है। विभिन्न सामाजिक विज्ञानों एवं ज्ञान विज्ञान की हमारी आधुनिक परिकल्पना के सन्दर्भ में इस प्रकार के सिद्धान्त के बहुत ही गंभीर निहितार्थ है, जिनका संकेत आगे किया गया है।

सभ्यता/संस्कृति की परिकल्पना

मनुष्य की संकल्पना के इस सन्दर्भ को यदि एक बार यहीं स्थगित कर दिया जाए तो एक भिन्न संदर्भ में जिसे broardly नैतिक संदर्भ या फिर सभ्यतामूलक एवं संस्कृतिमूलक विमर्श की संज्ञा दी जा सकती है, इस संदर्भ में मनुष्य को मूलतः एक ऐसे सृजक के रूप में देखा जा सकता है जो सदैव नवीन मूल्यों के निर्माण में संलग्न रहता है। यदि वे मूल्य, नैतिक प्रकृति के हैं तो उन्हें नैतिक मूल्य, सामाजिक हैं तो सामाजिक मूल्य, राजनीतिक हैं तो फिर राजनीतिक मुल्य कहलाते हैं। श्री अरविन्द एवं श्री गोविन्द चन्द्र पाण्डे आदि विचारको ने सामाजिक विज्ञानों के विशेष संदर्भ में मनुष्य की इस परिभाषा या उसके 'मूल्य–सृजन' के इस विशेष लक्षण पर बल देने का विशेष आग्रह किया है। चूंकि अलग–अलग सामाजिक विज्ञान, अपने–अपने विषय क्षेत्र में अलग–अलग मूल्यों के अध्ययन को लक्षित करता है। इसी कारण इन्हें मूल्यात्मक या आदर्शमूलक विज्ञान (Normative Science) कहा जाता है, न कि प्राकृतिक विज्ञान। जहां प्राकृतिक विज्ञान, अपने–अपने विषय–क्षेत्र से संबंधित तथ्यों का वर्णन करते हैं, वहीं मूल्यात्मक या आदर्शमूलक विज्ञान अपने अपने विषय से संबधित मूल्यों या आदर्शों की व्याख्या का कार्य करते हैं। जैसे वनस्पति शास्त्र एक प्राकृतिक विज्ञान है जो एक प्राकृतिक तथ्य (वनस्पति) की व्याख्या एवं वर्णन पर आधारित है, जबकि दूसरी और नीतिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र एवं समाजशास्त्र क्रमशः नैतिक, राजनीतिक या सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों का अध्ययन है।

मनुष्य की इस प्रकार की समझ पर बल देने के कारण सभ्यता एवं संस्कृति को भी मूलतः मूल्यों के सृजन की एक अनवरत प्रक्रिया के रूप में समझा गया है। सभ्यता का संबंध जहां मनुष्य जीवन के बाहरी या भौतिक पक्षों से है, वहीं संस्कृति का संबंध, जीवन या आचार व्यवहार के आंतरिक, वैचारिक या दार्शनिक पक्ष से है। संस्कृति एवं मृत्यु की समझ वस्तुततः एक दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न संस्कृतियों द्वारा मानव जीवन की समझ में जो

विभिन्नता देखने को मिलती है उसका एक सबसे बड़ा कारण उन संस्कृतियों में मृत्यु की विभिन्न प्रकार की समझ, व्याख्या और प्रस्तुतीकरण हैं भारतीय संस्कृति एवं मनीषा के लिए भी मनुष्य जीवन का मूल अभिप्राय और उसका उद्देश्य सदैव से ही मूलभूत केन्द्रीय विषय रहा है। चाहे प्राचीनतम साहित्य वेद और उपानिषद् हों, कवि–कुलगुरु कालिदास हों या आधुनिक चिन्तक जैसे रवीन्द्रनाथ टैगौर, श्री अरविन्द एवं जे. कृष्णामूर्ति, मनुष्य जीवन और उसका अभिप्राय सभी की ही मूल चिन्ता रहा है। अतः स्वाभाविक ही है कि इस साहित्य में मृत्यु के प्रश्न पर भी गंभीर विचार किया गया हो।

उपनिषद् के उपदेश का सार :

तीनों उपनिषद् (ईश, केन एवं कठोपनिषद्) का अध्ययन करने के बाद सार रूप में मृत्यु के सम्बन्ध में जो उपदेश समझ में आया वह निम्न बिन्दुओं में प्रस्तुत किया जा सकता है–

1. मृत्यु की अपरिहार्यता।
2. मृत्यु की अपिहार्यता को स्वीकार करना।
3. स्वीकृति के कारण शोक न होना।
4. मृत्यु के समय/काल/क्षण की अनश्चितता।
5. अतः मृत्यु का सदैव मनुष्य के निकट होना न कि सुदूर भविष्य में होना।
6. भौतिक/शरीरिक अस्तित्व की इस क्षणभंगुरता का गहरा अवबोध मनुष्य की चेतना में स्वयं एवं अन्य के प्रति एक गंभीर परिवर्तन लाता है।
7. कर्म व कर्मफल की नयी चेतना व सजगता।
8. अमृतत्व के अनेक संभावित अर्थ।
9. अमृतत्व का एक अर्थ– मृत्यु को सहजता से पार करने के अर्थ में, न कि शरीर का अजर–अमर होना।
10. आत्म ज्ञान का अर्थ है– स्वयं के कर्म एवं नियति के प्रति अधिकतक सम्भव सजगता।
11. आत्मा का अर्थ है–चेतना।

उपनिषद् में सर्वत्र एक परम को प्राप्त करने की, इस अनेकता में एकता, सीमा से सीमाहीन हो जाने की मृत्यु के पार जाने की, नित्य और शाश्वत के प्रति सार्वभौमिक और सार्वकालिक मानवीय अभिप्सा की, कहानी मिलती है। इन अभिप्सा, अभिलाषा या जीजीविषाओं की कहानी के रूप में ही उपनिषद् साहित्य हमारे लिए मूल्यवान है न कि अवधारणाओं, सिद्धांतों या स्थापना के रूप में। अवधारणाएं, सिद्धांत या स्थापनाएं कहीं न कहीं, मृत्यु के सामने छोटी पड़ जाती है, लेकिन अभिप्सा का मूल्य सदैव के लिए होता है।

मूल्यांकन एवं समीक्षा

यह आवश्यक नहीं है कि उपनिषद् के ''मृत्यु एवं अमृतत्व'' सम्बन्धी विचार का मूल्यांकन सिर्फ और सिर्फ सत्य और असत्य की दृष्टि से ही किया जाए। कोई भी सभ्यता या संस्कृति अपनी निर्मिति की प्रक्रिया में सदैव ही नवीन एवं चिरस्थायी मूल्यों एवं आदर्शों की रचना में संलग्न रहती हैं इतना ही नहीं वरन् उसकी अपनी एक मनुष्य एवं पूर्ण या

आदर्श जीवन की विशिष्ट संकल्पना भी होती है जो उस परम्परा के निरुपण में एक आधारभूत तत्त्व की भूमिका का निर्वाह करते हैं। इस बिन्दु पर आकर यह अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि वह विचार या आदर्श विशेष, किस प्रकार उस परम्परा में एक सार्थक अर्थवत्ता की खोज को नियमित एवं संचालित करता है। यहाँ आकर अनुभविक सत्यापन के आधार पर उस विचार की सत्यता/असत्यता का विचार कम महत्त्वपूर्ण रह जाता है।

यदि इस विशेष अर्थ में उपनिषद् के ''अमृतत्व'' सम्बन्धी विचारों को देखा जाए तो यह स्पष्ट है कि वे पूर्ण जीवन की एक बहुत ही सारगर्मित एवं आदर्श संकल्पना को प्रस्तुत करते हैं। ''मनुष्य अपने स्वभाव एवं रचना से ही न केवल पूर्ण सत्ता का अंग है वरन् अपने कर्म, ज्ञान एवं संकल्प के द्वारा वह इस पूर्णता को इसी जीवन में प्राप्त कर सकता है और शेष जीवन इस पूर्णता एवं दिव्यता के सानिध्य में व्यतीत कर सकता है। यही उपनिषद् का ''आदर्श एवं पूर्ण जीवन'' का चित्र है।''

निष्कर्ष –

यदि आधुनिक सामाजिक चिंतन को ध्यान से देखें तो हम देख सकते हैं कि इस चिन्तन में एक समग्रता या एकसूत्रता पर जोर नहीं है। जोर है, अधिक से अधिक Specialization पर ऐसा विशेषीकृत ज्ञान जो सिर्फ और सिर्फ विशिष्टता और विभिन्नता पर बल देता है न कि समष्टि और समग्रता पर। पूर्ण, समग्र एवं समष्टि जीवन की संकल्पना का अभाव ही पूरी विशेषज्ञता के बावजूद एक बिखराब, अलगााव और अन्तहीन विभाजन के रूप में हमारे सामने आता है। मेरी दृष्टि में यह बिखराब अलगाव और विभाजन ही वह सबसे बड़ा संकट या चुनौती है, जिसका सामना व्यवहारिक रूप में पूरी मानवीय सभ्यता को एवं सैद्धांतिक रूप में सामाजिक विज्ञानों को करना पड़ रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन या मनुष्य की औपनिदिक संकल्पना, सामाजिक विज्ञानों के इस अन्तहीन बिखराव, अलगाव एवं विभाजन से उपर उठने में हमारी सहायता कर सकती है।

***सह–आचार्य**
दर्शनशास्त्र विभाग
राजीव गांधी राजकीय महाविद्यालय,
शिमला, (हिमाचल प्रदेश)